फ़िल्म समीक्षा

फ़िल्म का नाम : मार्गरीटा विद अ स्ट्रॉ
भाषा : हिन्दी
अवधि : 100 मिनट
निर्देशन : शोनाली बोस/निलेश मनियर

भारत में जब भी हम पुरुष के स्वस्थ-बलवान शरीर की बात करते हैं तो उसकी तुलना स्त्री के कमज़ोर और नाजुक शरीर से की जाती है। पितृसत्तात्मक सामाजिक मानकों के अनुसार स्त्री शरीर में एक बुनियादी कमी है— लिंग की गैर-मौजूदगी। इसी एक अंग की कमी स्त्री शरीर को कमतर बना देती है और लिहाज़ा उसकी सुरक्षा का दारोमदार पुरुष पर आ जाता है। और इस कमतरी में अगर कोई एक और अंग विहिनता जुड़ जाए तो उसे विकलांग करार दे दिया जाता है। ऐसे में सहानुभूति और दया की पात्रता उस व्यक्ति के लिए काफ़ी हद तक बढ़ जाती है।

हिन्दी सिनेमा ने अब तक विकलांगता को अंधी लाचार मां, चलने में असमर्थ बैसाखी पर आश्रित बहन और बहरी-अंधी लड़की के रूपों में ही प्रस्तुत किया है। इन किरदारों के प्रति दशक मन में सहज ही हमदर्दी पनपती है।

फिर इन सभी नियामक मापदण्डों को चुनौती देती हुई फ़िल्म 'मार्गरीटा विद अ स्ट्रॉ' आती है जो हमें अपने इर्द-गिर्द बुनी हुई कुंठाओं और मान्यताओं से बाहर निकलने के लिए मजबूर कर देती है। यह फ़िल्म एक विकलांग लड़की लैला (कल्की कोएच्लिन) के परिपक्व होने की दास्तान है जिसे 'सेलेब्रल पॉल्सी' है। पर व्हीलचेयर का बटन दबाकर यहां— वहां घूमती लैला कोई उदास या जीवन से बेज़ार युवती नहीं है। वह अपना जीवन पूरी तरह से जीती है और उसकी मां (रेवती), पिता और छोटा भाई उसके इस जीवंत सफ़र में उसके साथ हैं। अपनी उम्र की दूसरी लड़कियों की तरह लैला कालेज जाती है, संगीत की धुन और गीत रचती है, ज़िद करती है और अपने सपने पूरा करने का हौसला रखती है।

फ़िल्म की सबसे दिलचस्प बात यह है कि यहां लैला के सपने नहीं बल्कि उसकी यौनिकता की खोज सर्वोपरि है। अपनी इसी तलाश में लैला एक विकलांग दोस्त के साथ यौनिक पहल करती है, एक समलैंगिक लड़की के साथ यौन संबंध बनाती है और एक अंग्रेज़ लड़के के साथ भी संभोग करती है। वह इन सभी संबंधों के माध्यमों से खुद अपनी यौनिक संतुष्टि तलाशती है और अपनी यौनिकता को समझने का प्रयास करती है। ये रिश्ते भावनात्मक प्यार के संबंध नहीं हैं बस एक शारीरिक ज़रूरत को पूरा करने का साधन मात्र है। यही फ़िल्म की अनोखी बात है जो इसे दूसरी फ़िल्मों से अलग बनाती है।

एक विकलांग, कामोत्तजक लड़की की यौनिकता का यह वृतांत दर्शकों के मन में उसकी विकलांगता की सच्चाई को पीछे ढकेल देता है और इस युवती के लिए मन में सहानुभूति और दया की जगह एक खुशहाल जीवटता का आभास पैदा करता है।

इस लीक से अलग रची गई फ़िल्म में कुछ और ऐसी बातें हैं जो सामान्य से हटकर हैं। लैला की मां लैला

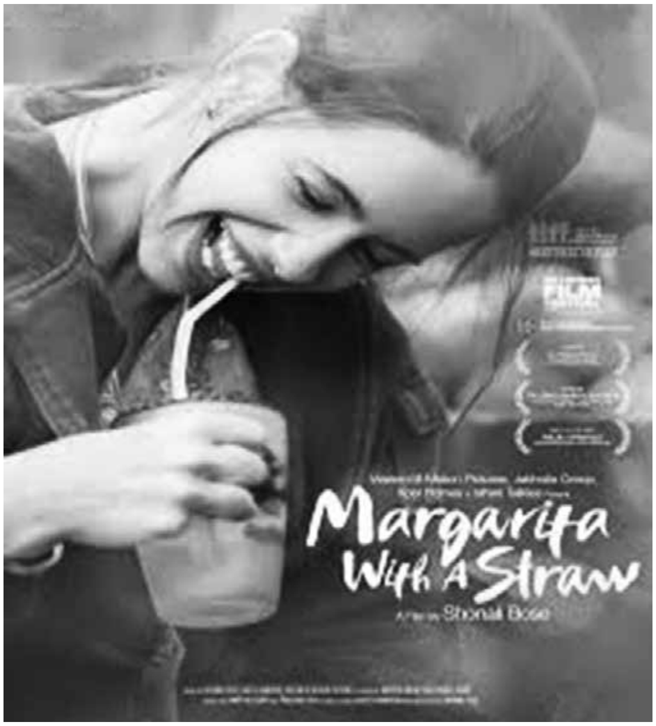

की सबसे सशक्त बुनियाद है। वह गाड़ी चलाती है; उसे कॉलेज छोड़ने से लेकर नहलाने, बाल बनाने और विदेश जाकर पढ़ने में सहयोग करती है। लैला की मां को कैंसर है लेकिन यह सच्चाई फ़िल्म के अंत में ही दशकों तक पहुंचती है। लैला के पिता एक कोमल व्यक्तित्व वाले पुरुष हैं जो गीत गाते हैं, रोते हैं और परिवार की समस्याओं को चुपचाप ख़ामोशी से सहते रहते हैं। पारम्परिक परिवार की छवि से अलग इस परिवार में स्त्री पात्र अधिक सशक्त और सबल हैं।

फ़िल्म में लैला और उसकी साथी खानम (सयानी गुप्ता) का यौनिक रिश्ता एक राजनैतिक प्रदर्शन के दौरान शुरू होता है। धीरे-धीरे लैला और खानम अपनी शारीरिक ज़रूरतें एक दूसरे के साथ पूरी करती हैं। फ़िल्म के कथानक में एक अहम दृश्य में लैला और खानम की मुलाकात एक ऐसी जगह होती है जो एक विरोध स्थल है। दोनों लड़कियों का यह सामान्य-विरोधी यौनिक रिश्ता यहीं से शुरू होता है। जैसे-जैसे पटकथा आगे बढ़ती है दर्शक जान जाते हैं कि खानम आम लड़कियों से अलग है। वह क्रिकेट खेलती है जो कि पूरी तरह से पूर्ण स्वस्थ और बलवान शरीर वाले लड़कों द्वारा खेला जाने वाला खेल है। एक ओर खानम जीवन

में विकल्प तलाशती है और सामाजिक मानकों का विरोध करके उन्हें चुनौती प्रदान करती है। पर दूसरी ओर पितृसत्तात्मक मानक उसके मन में भी गहरे पैठे हैं। वह लैला के किसी दूसरे पुरुष के साथ यौन रिश्ते की सच्चाई को स्वीकार नहीं कर पाती और यह मान लेती है कि उसके अलावा किसी दूसरे के साथ लैला का यौनिक रिश्ता उसकी भावनात्मक बेवफ़ाई का सबूत है।

फ़िल्म का अंत लैला की मां की मौत और खानम के उसे छोड़कर चले जाने के साथ होता है। इन दोनों भावनात्मक रिश्तों के खत्म हो जाने पर लैला मायूस या उदासीन नहीं होती। वह खुश है अपने आप के साथ। अकेली बैठकर, प्लास्टिक के कप में, स्ट्रॉ के साथ मार्गरीटा पीती हुई लैला हमें अहसास कराती है कि वास्तविक जीवन सीधा-साधा नहीं होता। वह स्ट्रॉ की तरह जटिल, तुड़ा-मुड़ा और उमंग भरा हो सकता है बशर्ते हम उसे खुलकर जीने का हौसला रखते हों।

सिनेमा जगत में शायद यह पहली बार हुआ है कि विकलांग लड़की की यौन इच्छा पर केंद्रित करके कोई फ़िल्म बनाई गई हो। मेरे विचार में यह फ़िल्म कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सवालों पर हमें सोचने को बाध्य करती है जिन पर कभी हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अभिनय के नज़रिए से कल्की और रेवती ने अपने किरदारों के साथ पूरा न्याय किया है। बाकी सभी कलाकारों ने भी अपनी-अपनी भूमिका को ईमानदारी से निभाने की कोशिश की है। कुल मिलाकर कहें तो यह एक बेहतरीन फ़िल्म है जो एक ऐसे मुद्दे को उठाती है जिस पर हम सभी को विचार-विमर्श करने की ज़रूरत है।

जुही जैन